E: ISSN NO.: 2349-980X RNI : UPBIL/2013/55327 SHRINKHALA: VOL-II * ISSUE-IX*May-2015

राजनीति–चिंतन मे न्याय की अवधारणा

हरबीर सिंह
व्याख्याता,
राजनीति विज्ञान विभाग,
महारानी श्री जया राजकीय महाविद्यालय,
भरतपुर, राजस्थान, भारत

सारांश

राजनीति शास्त्र में न्याय की संकल्पना पुरातन समय से ही चिंतन का महत्त्वपूर्ण विषय रही है। परंतु आधुनिक काल तक आते–आते इसमें आमूल–चूल परिवर्तन हो गया है। प्राचीन दृष्टिकोण के अंतर्गत मुख्यतः 'न्यायपूर्णव्यक्ति' के स्वरूप पर विचार किया जाता था। इस दृष्टिकोण में व्यक्ति के अन्दर उन सद्गुणों की तलाश की जाती थी जो व्यक्ति को न्यायपूर्ण बनाते थे।इस दृष्टिकोण में एक बनी–बनाई व्यवस्था का बनाए रखने के लिए उपयुक्त प्रयास किये जाते थे। अतः तब इसमें न्याय की मुख्य समस्या यह थी कि समाज व्यक्ति से क्या चाहता है? परंतु वर्तमान युग में–विशेषतः समाजवादी चिंतन की प्रेरणा से यह सोचा जाता है कि 'न्यायपूर्ण समाज'कैसा होना चाहिए? और इसका उद्धेश्य वर्तमान व्यवस्था को बनाए रखना नहीं है, बल्कि आधनिक चेतना के अनुसार सामाजिक परिवर्तन को बढ़ावा देना है।जहाँ प्राचीन दृष्टिकोण का मुख्य सरोकार व्यक्ति के चरित्र से था, वही आधुनिक दृष्टिकोण का मुख्य सरोकार सामाजिक न्याय से है।और न्याय पूर्ण सामाज की स्थापना से है।सामाजिक न्याय की संकल्पना मुख्यतः स्वतंत्रता, समानता और बंधुता के आदर्शों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करती है।आज के युग में न्याय की मुख्य समस्या है कि सामाजिक जीवन के अंतर्गत विभिन्न व्यक्तियों या समूहों के प्रति वस्तुओं, सेवाओं, अवसरों, लाभों, शक्ति और सम्मान के साथ–साथ दायित्वों और बाध्यताओं के आबंटन का उचित आधार क्या होना चाहिए तथा किसी प्रकार सम्पूर्ण समाज में अवसरों की समानता केस स्थापित की जायें।

मुख्य शब्द : संकल्पना, दृष्टिकोण, मनोवेग, सरोकार, सदगुण, तृष्णा, संयम, प्रतिष्ठा, उपयोगिता, यथास्थिति, प्राकृतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, दार्शनिक, प्रतीकात्मक, तात्विक, मार्क्सवादी, सुधारात्मक, संरक्षण, प्रतिस्पर्धा, पूंजीबाद, लोकतान्त्रिक ।

प्रस्तावना

राजनीतिक चिन्तन में न्याय का यह विचार देखने में जितना सरल प्रतीत होता है, वास्तव में उतना ही जटिल है। यह जाहिर है कि यदि सबके लिए न्यूनतम श्रम अनिवार्य नहीं होगा तो इतना उत्पादन कहाँ से होगा कि सबकी न्यूनतम आवश्यकताए पूरी की जा सकें? परंतु किसी विशाल राष्ट्र में सबके लिए रोजगार की व्यवस्था करना कोई खेल नहीं। फिर अतिरिक्त श्रम के लिए अतिरिक्त पुरस्कार किस सूत्र से निर्धारित करेंगे? क्या वर्तमानव्यवस्था के अंतर्गत चालाक, चलते–पुर्जे और भ्रष्टाचारी लोग अपनी कूट योजनाओं के बल पर अपनी संपदा बढ़ाते नहीं जाएंगे और धरातल पर कठोर परिश्रम करने वालों की बेकदरी नहीं होती रहेगी? क्या लोागे के निहित स्वार्थ इस व्यवस्था को अपनी–अपनी योग्यता का पुरस्कार कहकर सारी मानवता और सम्पूर्ण समाज की आँखों मे धूल झोंकते रहेंगे? इन सब समस्याओं को सुलझाना बहुत दुष्कर कार्य है।जब तक सर्वसाधारण में जागृति नहीं आएगी और वे निहितस्वार्थों पर कड़ी निगरानी और अंकुश नहीं रखेंगे तब तक सामाजिक न्याय एक दिवास्वप्न ही प्रतीत होगा।

अध्ययन के उद्देश्य

प्रस्तुत शोधपत्र में अध्ययन का उद्देश्य है राजनीति विज्ञान के शोधार्थिया को राजनीति विज्ञान की चिंतन परम्परा में न्याय की संकल्पना का परिचय कराना और न्याय के ऐतिहासिक स्वरूप की जानकारी देना कि किस प्रकार न्याय की संकल्पना राजनीति विज्ञान की चिंतन परम्परा में प्लेटों के काल से लेकर वर्तमान तक समय के साथ साथ बदलती रही है।

याय के विविध रूप

प्लेटों के अनुसार न्याय विचार

प्लेटो के अनुसार, मानव के आचरण में तीन प्रमुख गुण हैः इच्छा या तृष्णा, भावना या मनोवेग और ज्ञान या विवेक। वैसे ये तीनो गुण सभी मनुष्यो में पाए जाते हैं, परंतु प्रत्येक में किसी ना किसी गुण की प्रधानता होती है, किसी व्यक्ति में पहला गुण प्रधान होता है तो किसी और में दूसरा गुण। इसी आधार पर प्लेटो ने समाज के तीन वर्गों की पहचान की है जिनमें इच्छा तृष्णा या विवेक की प्रधानता है, जिनमें पहले गुण की प्रधानता है वे उद्योग–व्यापार को तत्पर होते हैं, जिनमें भावना की प्रमुखता है, वे सैनिक या योद्धा का व्यवसाय अपनाते हैं, जिनमे विवेक की प्रधानता है वो शासक वर्ग में शामिल होंगे, यदि सभीवर्ग सद्गुण निश्चित कर लें तो राज्य के लिए उपयुक्त सद्गुण निर्धारित करना सुगम हो जाएगा क्योंकि राज्य तो 'व्यक्ति का वृहत रूप' है। प्लेटों ने समाज में चार 'मूलभूत सद्–गुणों' की पहचान की है। इच्छा या तृष्णा के लिए उपयुक्त सद्गुण 'संयम' है। अतः उद्योग–व्यापार से जुड़े हुए वर्ग को सुदृढ़ जीवन की प्राप्ति के लिए अपने अंदर संयम विकसित करना चाहिए।और भावना या मनोवेग के लिए उपयुक्त सद्गुण 'साहस' है।अतः सैनिक वर्ग को गुणवत्तापूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए अपने अंदर साहस विकसित करना चाहिए। ज्ञान के लिए सबसे उपयुक्त सद्गुण 'बुद्धिमत्ता' है। अतः दार्शनिक या बुद्धिजीवी वर्ग को इस गुण का विकास करना चाहिए। चौथा या अंतिम और सब से महत्पूर्ण सद्गुण 'न्याय' है जो कि सर्वोच्च सद्गुण है। यह सभी सद्गुणों के मध्य सही–सही संयोग का सूचक है।व्यक्तिगत के मामले में न्याय से तात्पर्य यह है कि संयम को साहस का बल मिल जाए, और बुद्धिमत्ता से मार्ग दर्शन प्राप्त हो। तथा राज्य के संदर्भ में न्याय का अर्थ यह होगा–संयमी उत्पादक–वर्ग को साहसी सैनिक–वर्ग का संरक्षण प्राप्त हो, औरइनदोनोंकोबुद्धिमत्ता–पूर्णदार्शनिकवर्ग से उचितमागदर्शनप्राप्तहो। यहीकारणहैकिप्लेटों के न्याय–सिद्धान्त के अंतगर्त दार्शनिक–वर्ग के शासन का समर्थन किया गया है, इसी को दार्शनिक राजा के रूप में जाना गया है। प्लेटो इस न्याय पूर्ण समाजिक व्यवस्था में सैनिक–वग ंतथा उत्पादक–वग ंको अपने–अपन ेस्वभाव के अनुरूप भूमिकाएं सौंपी गई हैं जिनसे अपेक्षा की गई कि वो अपने लिए उपयुक्त सद्गुणों का चयन करते हुए दार्शनिक शासकों के नियंत्रण में रहेगें।[1]

अरस्तू के अनुसार न्याय का विचार

अरस्तू के अनुसार, न्याय का सरोकार मानवीय संबंधों के नियमन से है।अरस्तू का मानना था कि लोगों के मन में न्याय के बारे में एक–जैसी अवधारणा के कारण ही राज्य अस्तित्व में आता है।न्याय के क्षेत्र को ध्यान में रखते हुए अरस्तू ने दो प्रकार के न्याय में अंतर किया हैः–पहला वितरण न्याय है, तथा दूसरे को प्रतिवर्ती न्याय, या परिशोधनात्मक न्याय या प्रतिकारात्मक न्याय कहा जाता है।

वितरणात्मक न्याय का सरोकार सम्मान या धन–संपदा के न्यायोचित वितरण से है। यह व्यक्ति के विचार–क्षेत्र में आता है। इसका मूल सिद्धांत यह है कि 'समान लोगों के साथ समान व्यवहार किया जाए। इसके लिए सबसे पहले यह पता लगाना जरूरी है कि नागरिकों को किस आधार पर समान या असमान माना जाएगा? अरस्तू का मानना था कि इस मामले में प्रचलित प्रथाओं और प्रथागत कानूनो का सहारा लेना सर्वाधिक उचित होगा, लिखित कानून उतने उपयुक्त सिद्ध नहीं होते क्योंकि इन्हें शासन करने वाले जब चाहें, बना सकते हैं या बदल सकते हैं।अरस्तू ने चेतावनी दी थी–कि मनुष्यों के चरित्र को बदलना उतना सरल नहीं है जितनी अधिक सरलता से कानून बदल दिए जाते हैं।[2]

अरस्तु न्याय का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए इसमे भेद करता है, न्याय के दो प्रकार है

सामान्य न्याय

(सम्पूर्ण) सामान्य न्याय से उस अभिप्राय पड़ोसी के प्रति किये जाने वाले भलाई सम्बन्धी कार्यो से है। इसमे नैतिक गुण और अच्छाई सव आ जाते है।अरस्तु ने सभी सदगुणो एंव समग्र साधुता को सामान्य न्याय माना है।

बिशेष न्याय

इस न्याय को वह आनुपातिक के अर्थ मे लेता है। जिसका अर्थ है कि "जिस व्यक्ति जो योग्यता के अनुसार मिलना चाहिए उसकी प्राप्ति होती है या नही विषष न्याय को अरस्तु पुनः दो उपभागों में विभाजित करता है–

वितरणात्मक न्याय

राज्य को चाहिए कि वो अपने नागरिकों में राजनैतिक पदों सम्मानो तथा अन्य पुरष्कारो का वितरण न्याय पूर्ण रीति से करे अर्थात जो योग्य हो उसकी वही पद स्थान, और सम्मान मिलना चाहिए जिसका वो हकदार है।सम्मानीय पदों पर किसी वर्ग विषेष की नही होनी चाहिए।

संषोधानात्मक या सुधरात्मक न्याय

सुधारात्मक न्याय एक नागरिक के सम्बन्ध को व्यक्त करता है। राज्य के विभिन्न सदस्यों के परस्पर व्यवहार में उत्पन्न होने वाले दोषों के ठीक करने के लिए उनमे संषोधन करता है। या दण्ड भी दे सकता है।

पोलिटिक्स मे वितरणात्मक न्याय को श्रेष्ठ माना है और उसे ज्यादा स्वीकार किया है।

हाइक का न्याय सिद्धान्त

नॉजिक की तरह हाइक की प्रक्रियावादी न्याय की प्रबल समर्थक है।हाइक के न्याय सम्बन्धी विचार लॉ लेजिस्लेषन एण्ड लिबर्टी मे रखे हुए ळें हाइक का तर्क है कि–समाज के पास सीमित साधन है जो समाज की आवष्यकता पूरी नहीं कर सकते हैं। सामाजिक न्याय अपनाने पर अधिकारी इन संसाधनो को मनमाने तरीके से बांट देते हैं लोग संसाधन प्राप्त करने के लिए बडे–बडे हित समूह बना लेते हैं जो अपने–अपने हिस्से की मॉग करते हैं। हित जितना बडा होगा वो उतना बडा हिस्सा ले जायेगा। फिर सामाजिक न्याय की आड मे अयोग्य लोगों

को अनुचित तरीके से सम्पदा मिल जायेगी। इससे योग्य लोगों को नुकसान होगा वो दुखी होकर मेहनत नही करेंगे और समाज की प्रगति रूक जायेगी।

न्याय का नारीवादी दृष्टिकोण

न्याय का नारीवादी दृष्टिकोण–विकास प्रक्रिया में स्त्रियों को भी उतना ही लाभ चाहता है जितना पुरूषों का है। ये समान कार्य के लिए समान वेतन की मांग करते हैं तथा निजी–जीवन तथा परिवार मे समानता की बात करते हैं। नारीवादी समर्थकों का कहना है कि स्त्री सहिष्णुता, ममता और उदारता का केन्द्र है जो स्वभाव से प्रकृति के निकट रहती है और उनका उपभोग स्तर बहुत निम्न होता है जबकि पुरूष जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे वर्चस्व स्थापित करता है और वो महिलाओं को समानता का अधिकार नहीं देता है।

कानूनी–औपचारिक न्याय और प्राकृतिक न्याय

जब दो पक्षों के मध्य विरोधी दावों का फैसला करने के लिए या किसी व्यक्ति या संस्था के अधिकार एवं दायित्व निर्धारित करने के लिए प्रचलित कानून के अनुसार न्याय किया जाता है, तो उस न्याय को कानूनी न्याय कहते हैं।उदाहरण के लिए, जब देश के कानून के अनुसार किसी अपराधी को दण्ड दिया जाता है, या विवादास्पद संपत्ति के वैध उत्तराधिकारी का निर्णय दिया जाता है तो इसे हम कानूनी न्याय कहेंगे। अंतराष्ट्रीय न्यायालय जब अंतर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार कोई फैसला देता है तो उसे भी कानूनी न्याय कहा जाता है।कानूनी न्याय में कानून के प्रकट रूप को ही सबसे ऊंचा प्रमाण माना जाता है, और उसे निष्पक्ष भाव से लागू किया जाता है, इसलिए यह औपचारिक न्याय की श्रेणी में आता है।[3]

व्यापक अर्थ में, 'सामाजिक न्याय' शब्दावली से सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक तीनों तरह के न्याय का बोध हो जाता है। सीमित अर्थ में, 'सामाजिक न्याय से तात्पर्य यह है कि सामाजिक जीवन में प्रत्येक मनुष्य की गरिमा स्वीकार की जाए, स्त्री–पुरुष, गोरे–काले, या जाति, धर्म, क्षेत्र इत्यादि के आधार पर किसी व्यक्ति के मध्य भेदभावना किया जायें किसी को भी छोटा–बडा या ऊँचा–नीचा न माना जाए, शिक्षा और उन्नति के अवसर सबको समान रूप से उपलब्ध हों, और सभी लोग मनुष्य–मनुष्य के नाते मिल–जुलकर साहित्य, कला, संस्कृति और तकनीकी साधनों का उपभोग और उपयोग कर सकें।[4]

देखा जाए तो सामाजिक न्याय की मांग वर्तमान युग की विशेषता है। टॉम बॉटॉमोर ने अपनी पुस्तक 'क्लासेज इन मॉडर्न सोसायटी' के अंतर्गत लिखा है कि मानवसभ्यता के लंबे इतिहास में धन–संपदा, पद–प्रतिष्ठा और शक्ति की विषमताएं प्रायः ऐसी स्थिति के रूप में स्वीकार की जाती रहीं जिसमें कोई बदलाव नहीं किया जा सकता हो। अठारहवीं शताब्दी में जब अमरीकी और फ्रांसीसी क्रांतियों ने इस स्थिति पर प्रश्न–चिन्ह लगाने की प्रेरणा दी, उसी समय यह अनुभव किया गया कि सामाजिक वर्ग–व्यवस्था विषमता की जीती–जागती मिसाल है। अतः इस तथ्य पर व्यापक विवाद हुआ, तथा सामाजिक न्याय के दृष्टिकोण से इसे चुनौती दी गई। तभी इस तरह की घोषणाओं का सूत्रपात हुआ–ऊपरवाले ने सभी को समान और स्वतंत्र बनाया हैं, उनमे किसी भी तरह का भेदभाव केवल सार्वजनिक उपयोगिता के आधार पर ही यिका जाना चाहिऐ।सामाजिक न्याय की संकल्पना से ही अधिकारों की पुनर्व्यवस्था की मांग का जन्म हुआ।[5]

प्रक्रियात्मक न्याय और तात्त्विक न्याय

सामाजिक जीवन में न्याय किसी भी रूप में स्थापित किया जाए– इस विषय पर समकालीन चिंतन के अंतर्गत प्रक्रियात्मक न्याय और तात्त्विक न्याय के समर्थको मे विभेद देखा जाता है। प्रक्रियात्मक न्याय के समर्थको का यह मानना हैं कि सामाजिक जीवन से प्राप्त होने वाले लाभों के आवंटन के लिए सार्वजनिक निर्णयो तक पहुँचने की प्रक्रिया या विधि न्यायपूर्ण होनी चाहिए, फिर किसे क्या मिलता है– यह विवाद का विषय नहीं है।इसके विपरीत तात्त्विक न्याय के समर्थको का यह मानना हैं कि इन लाभों का वितरण न्यायपूर्ण होना चाहिए, इस लक्ष्य को देखते हुए इस न्याय की प्रक्रिया में आवश्यक समायोजन किया जा सकता है। देखा जाए तो प्रक्रियात्मक न्याय का स्वरूप कानूनी–औपचारिक न्याय से मिलता–जुलता है, और तात्त्विक न्याय का विचार सामाजिक न्याय के नजदीक आ जाता है।[6]

न्याय का मार्क्सवादी विचार

मार्क्सवादी विंचारधारा के अंतर्गतन्याय के सिद्धांतों का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। मार्क्सवाद का ध्येय पूंजीवाद की जगह समाजवाद स्थापित करना है जिसका एकमात्र उपाय केवल क्रांति को मानता है, न्याय के प्रतिझुकाव का अर्थ होगा–वर्तमान व्यवस्था को थोड़े–बहुत परिवर्तन के साथ बनाये रखना। अतः कुछ राजनीतिक विचारक यह तर्क देते हैं कि न्याय का प्रश्न मार्क्सवाद के संदर्भ में अप्रासंगिक है। इस तर्क के अनुसार, कार्ल–मार्क्स ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'कैपीटल' (पूंजी) के अंतर्गत मजदूरों के शोषण का जो विवरण दिया है, वह पूंजीवाद का स्वाभाविक लक्षण है, उस विवरण को अन्याय की समस्या मानकर पूंजीवाद के अन्दर उसका हल ढूंढना बेकार होगा। कार्ल–मार्क्स केवल पूंजीवादी प्रणाली के अंतर्गत आय और मजदूरी के स्तरों में सुधार ही लाना नहीं चाहता था, बल्कि संपूर्ण उत्पादन–प्रणाली और संपत्ति के संबंधों को नए रूप में ढालना चाहता था। कुछ समय बाद 'क्रिटिक ऑफ गोधा प्रोगाम' के अंतर्गत 'उचित वितरण' की मांग उठाकर अपने कर्तव्य को पूर्ण समझ लेते हैं। इसके अलावा, कार्लमार्क्स ने सामाजिक विश्लेषण के लिए आधार और अधिरचना का जोताना–बाना पेश किया है, उसमे नैतिकता को अधिरचना का हिस्सा मानते हुए यह तर्क दिया गया है कि समाज में ऐतिहासिक परिवर्तन के साथ जब उत्पादन की प्रणाली बदल जाती है, तब 'उचित–अनुचित' या 'न्यायपूर्ण और अन्यायपूर्ण के मानदंड भी बदल जाते हैं। ऐसी परस्थिति में न्याय के कोई मूलभूत सिद्धांत कैसे स्थापित किए जा सकते हैं? अंततः कार्लमार्क्स के अनुसार, पूंजीवादी व्यवस्था के खत्म होने के बाद जो' साम्यवादी व्यवस्था' आऐगी उसमें अभाव और संघर्ष को जन्म देने वाली परिस्थितियों ही नही होंगी तब मानव समाज को राज्य और उसके किसी न्यायिक उपकरण की कोई जरूरत ही नहीं रहेगी।[7]

कार्लमार्क्स के इन तर्कों का ध्यान में रखते हुए यह मान लेना कि न्याय के प्रश्न से मार्क्सवाद का कोई सरोकार नही है उचित नहीं है।मार्क्स ने अनेको जगह मजदूरों के शोषण को अनुचित कहा है। कार्लमार्क्स ने 'प्रत्येक को अपने कार्य के अनुसार' के आधार सूत्र के स्थान पर 'प्रत्येक को अपनी आवश्यकता के अनुसार' का समर्थन किया है। इसका अर्थ यह हुआ कि कार्लमार्क्स ने वितरणात्मक न्याय के एक सिद्धांत की तुलना में दूसरे सिद्धांत को वरीयता दी है।

निष्कर्ष

राजनीतिक चिन्तन में न्याय के विचार का मुख्य चिन्तन बिन्दु यह निर्धारित करना है कि सामाजिक जीवन में लाभों और दायित्वों के वितरण को किसी प्रकार तर्कसंगत बनाया जाये यह बात बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि क्या न्याय की चिन्तन प्रकिया केवल ऐसे समाज में प्रासंगिक होगी जिसमे वस्तुओं और सेवाओं, तथा अवसरों, का अभाव हो, और या फिर ऐसे समाज में जहाँ लोकतान्त्रिक परम्पराऐ कायम हो और सभी लोगो को अवसर की समानता उपलब्ध हो। न्याय के वारे में अनेक दृष्टिकोण प्रचिलत है इसी कारण टी•वी•पोटर ने न्याय की तुलना एक ऐसे वर्तन से की है जिसके अनेको तले ह न्याय के वारे में विभिन्न विचारधाराऐ समय के साथ–साथ अपना दृष्टिकोण बदलती चली गई प्रराम्भमें जहा शक्तिशाली का हित ही न्याय माना जाता था वही वर्तमनान में सबसे कमजोर व्यक्ति का हित न्याय माना जाता है।आज अवसर के साथ–साथ परिणाम की समानता पर भी विचार किया जाने लगा है। स्पष्टतः न्याय की सार्वभौम परिभाषा करना कठिन कार्य है यह एक अनवरत प्रक्रिया है जो समय के साथ–साथ वदलती रहती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. *लोढ़ा, गुमानमलः'न्यायिक क्रांति के आयाम' यूनिक ट्रेडर्स, जयपुर, 1986*
2. *बार्कर, अर्नेस्टः''सामाजिक तथा राजनीति शास्त्र के सिद्धांत(अनुवादक–बोधराजशर्मा) हरियाणाहिन्दीग्रन्थअकादमी, चण्डीगढ़ 1972*
3. *अग्रवाल, बालमुकुन्दः'हमारी न्याय पालिका नेशनल बुक ट्रस्ट, नई (अनुवादक–भवानी दत्त पंड्या)दिल्ली, 1995*
4. *सेबाइन, जार्ज एच.:'राजनीति–दर्शन का इतिहास' एस.चन्द एण्ड (अनुवादक–विश्वप्रकाश गुप्त) कम्पनी, नईदिल्ली, 1977*
5. *कपूर, अनूपचन्दः'राजनीति विज्ञान के सिद्धन्त' एस. चन्द एण्ड कम्पनी, 1984*
6. *जौहरी, जे.सी.:'आधुनिक राजनीतिक विज्ञान के सिद्धांत'स्टर्लिंग पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1992*
7. *गाबा, ओ.पी.:'समकालीन राजनीति सिद्धांत'मयूर पेपर बेक्स, नोएडा,1996*